जैन संस्कृति प्रतिष्ठापक–आचार्य कुंदकुंद प्राग्वैदिक पुरुष व्रात्य (द्रविड 'श्रमण') थे

गोरावाला खुशालचंद्र
काशी

आधुनिक इतिहास पद्धति पश्चिम की है। पाश्चात्य इतिहासज्ञों की पहुँच आर्यों के आव्रजन तक ही रहती, यदि भारत में प्राग्वैदिक या द्रविड़-संस्कृति का अस्तित्व मोहनजोदड़ो और हारप्पा ने मूर्तिमान न किया होता। इस उत्खनन ने विश्व की मान्यता बदल दी है क्योंकि इन अवशेषों ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्राग्वैदिक-संस्कृति 'सुविकसित-नागरिकता' थी तथा आर्य लोग द्रविड़-संघ से कम सभ्य तथा दक्ष थे। वेद भी अपने इन विरोधियों को दास, व्रात्य आदि नामों से याद करते हैं।

व्रात्यों का स्वरूप संक्षेप में यह है कि वे यज्ञ, ब्राह्मण और बलि को नहीं मानते। ऋग्वेद सूक्तों में व्रात्य का उल्लेख है किन्तु यजुर्वेद और तैत्तिरीय ब्राह्मण उसे नरमेध के बलि-प्राणी रूप से कहता है। तथा अथर्ववेद कहता है कि 'पर्यटक व्रात्य ने प्रजापति को शिक्षा और प्रेरणा दी' (१५–१)। वैदिक और ब्राह्मण साहित्य का अनुशीलन एक ही स्पष्ट निष्कर्ष की घोषणा करता है कि 'दास या व्रात्य वे 'जन' थे जिनका वैदिकों से विरोध था। इसलिए ही वेद गोमेध के बैल के समान नरमेध में (व्रतात् समूहात् च्यवति यः स व्रात्यः) 'व्रात्य' को बलि का प्राणी मानते थे।

उत्तर-वैदिक साहित्य की समीक्षा वेद विरोधियों के विषय में एक स्पष्ट उल्लेख करती है। पाणिनीय के सूत्रों पर रचित पातंजलि की वृत्ति में द्वन्द्व समास के स्थलों को मुखोक्त करते हुए पातंजलि कहते हैं—जिनमें शाश्वत अर्थात् नैसर्गिक विरोध होता है, यथा सांप और नेवला, ब्राह्मण और श्रमण, ('येषां च शाश्वतिको विरोधः। अहिनंकुलयोः ब्राह्मणश्रमणयोः'।) वहाँ भी द्वन्द्व समास होता है। स्पष्ट है कि प्राग्वैदिक-जन व्रात्य द्रविड़ या श्रमण थे। और ये पशुपालक ऋ गतौ ण्यत् प्रत्यये आर्यः, भ्रमणशील (आर्यों) जनों की अपेक्षा अध्यात्म, सन्यास, कायक्लेश या तप, मोक्ष और दर्शन की दृष्टि से, कर्मकाण्डी बलि (हिंसामय यज्ञ), सोमपायी और स्वर्गकामी आर्यों से आगे थे। ये घोड़ा, वाण, सोमपान, रुद्रता और पर्वतीय-सहिष्णुता के बल पर जीतने वाले आर्यों की श्रेष्ठता मानने के लिए सहमत नहीं हुए थे। परिणाम यह हुआ कि तीर्थंकर सुव्रत (रामायण युग) और नेमियुग (महाभारतकाल) में भी इनका वैदिकों या ब्राह्मणों से संघर्ष रहा तथा राक्षस (रक्षस् शब्दात् स्वार्थेऽण्) का अर्थ यज्ञादि विरोधी तथा पातकी (५-३५-४६) उसी तरह कर दिया, जिस प्रकार बेघर या खानाबदोश अर्थवाले 'आर्य' शब्द का अर्थ श्रेष्ठ कर दिया गया था क्योंकि ये विजेता थे।

द्रविड़ व्रात्य-श्रमण थे

पाश्चात्य विद्वानों (श्री बेवर तथा हावर) ने प्रारम्भ में आर्हत धर्म की अनभिज्ञता के कारण बौद्धों को व्रात्य कहा था। किन्तु अद्यतन-परिशीलन से स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध के आविर्भाव (तीर्थंकर महावीरयुग) के बहुत पहिले रामायण और महाभारत काल में व्रात्यों (श्रमणों) का गुरु-सम्प्रदाय था तथा वेदों के हिरण्यगर्भ अर्थात् ऋषभदेव से ही प्रजापति की सृष्टि हुई थी। ये शिश्नदेव या दिगम्बर थे। ये प्रव्रज्या अर्थात् ज्ञान-ध्यान-तप की, विहार करते हुए साधना करते थे। 'उनके गर्भ में आते ही सुवर्ण की वृष्टि हुई थी, अतः वे पहिले हिरण्यगर्भ कहलाये और बाद में प्राणि

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मात्र की असि-मसि-कृषि शिक्षा देने तथा करुणा या मैत्री के द्वारा वे भूतों के अद्वितीय नाथ हुए थे (हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्)। उनकी भाषा प्राकृत या जनभाषा थी जो कि अपने सरल रूप के कारण वैदिक-संस्कृत का पूर्वरूप वैसे ही है, जैसे कि लौकिक (क्लासीकल) संस्कृत का पूर्वरूप वैदिक-संस्कृत है। यह प्राकृत भाषामय मोक्षोन्मुख व्रात्य या श्रमण संस्कृति अपने मूलरूप में आर्हतों या आधुनिक जैनियों में ऋषभयुग से चलती आयी। आजीवक आदि विविध सम्प्रदाय तथा गौतमबुद्ध की प्रारम्भिक कठोरसाधना स्पष्ट बताती है संयम-नियम-यम-प्रधान यह श्रमण संस्कृति ही भारत की आद्य या मौलिक संस्कृति थी तथा अन्तिम श्रमण केवली महावीर ने भी उसका ही उपदेश आचरणपूर्वक किया था। मौर्ययुग के मगध के बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के कारण आयी सुखशीलता और उपाश्रय-निवास के कारण श्रमण परम्परा में आगे भेद (स्थविरकल्प या श्वेताम्बरत्व) का निराकरण करके जिनकल्प या दिगम्बरत्व के मूलरूप की प्रतिष्ठा आम्नायाचार्य कुंद-कुंद स्वामी ने की थी, जो भारत ही नहीं अपितु विश्वसमाज को जीव-उद्धार कला की अनुपम देन है।

वीरोत्तरकाल

जयधवल, तिलोयपण्णत्ति, जम्बूदीवपण्णत्ति से लेकर श्रुतावतार आदि में तीर्थाधिराज महावीर स्वामी से लेकर लगभग ६८३ वर्ष तक हुए भारत की मूल (श्रमण) संस्कृति के संरक्षकों की नामावलि, थोड़े से वर्ष-प्रमाण में भेद के साथ उपलब्ध है। आर्यपूर्व काल में भारत के मूलसंघ में नामोल्लिखित चारों (द्रविड, नन्दि, सेन तथा काष्ठा) संघों में से द्वितीय-नन्दिसंघ की पट्टावलि भी न्यूनाधिक उक्त तालिकाओं का अनुकरण करती हुई केवली, श्रुतकेवली, एकादशांग-दशपूर्वधारी, एकादशांगधारी और केवल आचारांगवेत्तारों के उल्लेख के बाद अर्हद्बलि, माघनन्दी, गुणधर, धरसेन और पुष्पदन्तभूतबलि का भी समावेश करती है। श्रुतावतार के अनुसार कषायपाहुड़ और षट्खंडागम के विषय को लेकर लिखने वालों में सर्वप्रथम कुंदकुंदचार्य ही हैं। शामकुण्ड की 'पद्धति', तुम्बूलुराचार्य की 'व्याख्या' और समन्तभद्र की कृति के समान टीका न होकर आचार्य कुंदकुंद का 'परिकर्म' ग्रन्थ था। यह विस्तृत व्याख्या या भाष्य परमोपकारी आचार्य श्री वीरसेन के सामने था और इतना महत्वपूर्ण था कि उन्होंने अपनी टीकाओं (धवल, जयधवल) में इसके सिद्धान्तों को सर्वाधिक महत्व दिया है।

कुंदकुंद की कृतियां

यद्यपि आम्नायाचार्य की प्रथम कृति 'परिकर्म' इस समय उद्धरण रूप से ही उपलब्ध है, तथापि यह उन्हें श्रुत-केवलियों की अन्तरंग परम्परा का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के प्रथम प्ररूपक कुंदकुंदाचार्य की करणानुयोग-दक्षता को सिद्ध करने में समर्थ है क्योंकि आचार्य श्री की मूलाचार, ८४ पाहुड़ों में से उपलब्ध अष्ट प्राभृत, रयणसार, दसभक्ति, बारस अणुवेक्खा, नियमसार, पंचत्थिकायसंग्रह और प्रवचनसार कृतियां ब्राह्मण, बौद्धादि वाङ्मयों में दुर्लभ द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्वज्ञान, स्पष्ट आचार-संहिता तथा लोक या जगत के स्वरूप, आदि की आद्य प्ररूपक हैं। ब्राह्मण-संस्कृति के ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषत् आदि चिन्तन के प्रेरक हैं। ये कुंदकुंदाचार्य को भारत की मूल द्रविड या श्रमण-संस्कृति के आद्य प्ररूपक रूप में दिखाते हैं।

गुरुपरम्परा

भारतीय शिष्टाचार की सनातन परम्परा के अनुसार आचार्य कुंदकुंद ही अपने विषय में मौन नहीं है, अपितु प्रमुख टीकाकार भी उनके विषय में विशेष भिज्ञता नहीं देते हैं। दर्शनसार अवश्य कहता है कि आचार्यश्री के विदेहगमन सूचक गाथाएँ पूर्वप्रचलित गाथाओं का संकलन हैं। पचास्तिकाय की टीका में भी जयसेनाचार्य ने आम्नायाचार्य के विदेहगमन और सीमन्धर स्वामी से समाधान प्राप्त करने का उल्लेख किया है। प्रवचनसार की एक गाथा भी इसका संकेत करती है। इसकी टीका में जयसेनाचार्य का इन्हें कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव का शिष्य लिखने की अपेक्षा नन्दिसंघ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की पट्टावलि के जिनचन्द्र का गुरुत्व संभव हो सकता है, क्योंकि जिनचन्द्र माघनन्दि के शिष्य थे और माघनन्दि गुणधर-धरसेन के पूर्ववर्ती थे एवं अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के उत्तरकालीन प्रमुख श्रुतधरों में थे। आम्नायाचार्य स्वयमेव अपने बोधपाहुड़ में कहते हैं :

'तीर्थाधिराज वीर प्रभु ने अर्थरूप से जो आगम कहा था, उसे शब्दरूप से गणधरादि ने गूंथा था। भद्रबाहु के इस शिष्य कुंदकुंद ने उसे वैसा ही जाना है और कहा है। द्वादशांग के विशदवेत्ता—और चौदहपूर्व के विस्तृत ज्ञाता, श्रुतज्ञानी मेरे 'गमकगुरू' भगवान भद्रबाहु की जय हो।' इसके सिवा कुंदकुंदाचार्य अध्यात्म विश्व में उपलब्ध एकमात्र कृति समयसार के प्रारम्भ में ही सिद्धवंदना करके स्पष्ट लिखते हैं 'श्रुतकेवली द्वारा कथित इस समयप्राभृत को कहता हूँ।'

आम्नायाचार्य के गुरुबंदनासूचक ये दोनों उल्लेख अधिकार-पूर्वक घोषित करते हैं कि वे उसी विद्या का उपदेश दे रहे हैं जो भगवान वीर को अर्धमागधी से निकलकर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित थी। भारत की मूल (श्रमण) परम्परा में मगध के दुर्भिक्ष के कारण आये विकार (सम्प्रदाय भेद) के फलित रूप श्वेताम्बर सम्प्रदाय को भी भद्रबाहु स्वामी अन्तिम श्रुतकेवली रूप से मान्य हैं जैसा कि पाटलिपुत्र की वाचना के समय ग्यारह अंगों का यथा-तथा संकलन करने के बाद दृष्टिवाद के लिए स्थूलभद्र स्वामी का उनके पास जाना और अपनी शिथिलता के कारण पूर्ण शिक्षण पाने की असफलता से स्पष्ट है।

अन्तिम श्रुतकेवली ने कृपा करके स्थूलभद्र को बारहवें अंग के विद्यानुवाद पूर्व तक का शिक्षण दिया था और आदेश दिया था कि इसका उपयोग चमत्कार या लौकिक स्वार्थ के लिए मत करना क्योंकि इसकी सिद्धि होते ही लघु तथा महाविद्याएँ तुम्हारे सामने आकर कहेंगी 'प्रभो क्या आज्ञा है ?' किन्तु स्थूलभद्र इस प्रलोभन का पार न पा सके और बहुरूपिणी विद्या को जगा कर अपनी गुफा में सिंह रूप से बैठे, अपनी बहिन के द्वारा ही गुरुवर को निवेदित हुए। परिणाम यह हुआ कि भद्रबाहु स्वामी ने आगे पढ़ाना रोक दिया और स्थविरकल्पियों को जैसे-तैसे ग्यारह अंगों से ही सन्तोष करके, बारहवें अंग को लुप्त घोषित करना पड़ा। किन्तु मूल आम्नाय या संघ में आचारांगधारियों के समय से ही बारहवें अंग के करणानुयोग के मुख्य विषय, मोहनीय की मुख्य तथा उसकी भूमिका को दृष्टि में रख कर गुणधराचार्य ने 'कसायपाहुड' को गाथा रूप से लिपिबद्ध किया तथा धरसेनाचार्य ने आचार्य भूतबलि-पुष्पदंत को पढ़ाकर कम्म पाहुड (जीवट्ठाण, खुद्दाबंध, बंधसामित्त, बेदणा, बग्गणा और महाबंध) को लिपिबद्ध कराया था। तात्पर्य यह है कि मूल श्रमण-परम्परा में बारहवें अंग की महत्ता, गूढ़ता तथा उपयोगिता को समझ कर श्रुतधर आचार्यों ने मूल उद्गम तीर्थंकरों की वन्दना करके, दिव्यध्वनि की आराधना और उसके ग्रन्थक गणधरादि को प्रणाम करके शास्त्रकार आचार्यों को तीर्थंकर ज्ञान (आगम) की अनुकूलता की शपथ पूर्वक ही शास्त्रों की रचना की थी।

मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दान्वय

भगवान् महावीर के समय में श्रमणों या आर्हतों को 'निगंठ' या निर्ग्रन्थ नाम से जाना जाता या जो कि दिगम्बरत्व का द्योतक है। श्रमण संस्कृति का लक्ष्य मोक्ष था और मोक्ष के लिए सर्वांग अपरिग्रही होना अनिवार्य है। फलतः इस कालचक्र में हिरण्यगर्भ ऋषभ से चला धर्म मूलरूप में दिगम्बरत्व या जिनकल्प को ही मोक्ष का चरम बाह्य साधन मानता है। श्वेताम्बर अंगों में भी ऋषभदेव को विशुद्ध जिनकल्पी या दिगम्बर ही माना है तथा बीच में अचेल-सचेल मानकर बीर प्रभु को भी विशुद्ध जिनकल्पी लिखा है। फलतः वीर निर्वाण संवत् ६०९ में बोटिकों का उद्भव लिखना, श्वेताम्बरों के लिए स्व-बाधित है। वे भूल जाते हैं कि यह अवसर्पिणी अर्थात् 'हीयमान' काल-क्रम है। इसीलिए रामायणयुग से महाभारतयुग की मर्यादाएँ हीयमान हैं। आगमों के मूल शब्द अचेल की अल्प-चेल व्याख्या उत्तरकालीन हैं। यह व्याख्या श्रमण संस्कृति के लिए आत्मघात के समान है, क्योंकि अन्यमती कह सकते हैं कि अहिंसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का अल्प-हिंसा, असत्य का अल्प-सत्य, आदि करके याज्ञिकी हिंसा, अल्पहिंसा होने के कारण, श्रमण धर्म-सम्मत क्यों नहीं है ? अर्थात् इसे मानने पर 'व्रात्य' या 'अज्जि' (वर्जन) के मूलरूप का ही विघात हो जायेगा।

मूल आम्नायाचार्य

भारत की सनातन या मूल संस्कृति मोक्षोन्मुख जिनकल्प दिगम्बर धर्म था। इसके लिए ही मूलसंघ शब्द का उपयोग हुआ था। यह कुन्दकुन्दाचार्य के प्ररूपण के बाद ईसा की चौथी शती तथा पूर्व के शिलालेखों से भी सिद्ध है। यही कारण है कि उत्तरकालीन मुख्य चारों (द्रविड़ नन्दि, सेन तथा काष्ठा) संघ अपने आपको कुन्दकुन्दान्वयी मानकर कुन्दकुन्दचार्य से ही सम्बद्ध करते हैं। अतः गमक गुरुवर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी के धुरन्धर शिष्य कुन्दकुन्द का समय स्थविरकल्पी श्वेताम्बरों को प्रथम (पाटलिपुत्र) आगमवाचना अर्थात् अंगसंकलन प्रयास का समकालीन हो सकता है। श्वेताम्बर वाङ्मय सम्मत स्थूलभद्रादि द्वारा प्रस्तावित छेदोपस्थापना प्रयास की विफलता के बाद उत्तर भारतीय जैन श्रमणों में सचेलता ही नहीं, १४ उपकरणों का चलन हो चुका था तथा दुर्भिक्ष के कारण आहार-संकलन तथा उपाश्रय में आकर गोल बनाकर खाना तथा भिक्षा को दूसरे समय के लिए बचा कर रखना तथा बुद्ध की मज्झिमा वृत्ति से प्रभावित होकर स्त्री-प्रवृज्या तथा मुक्ति की मान्यता भी बद्धमूल हो गयी थी। इसीलिए शिश्नदेव के अनुयायी आम्नायाचार्य अपने बोधप्राभृत में कहते हैं—'जिनमार्ग या कल्प में वस्त्रधारी की मुक्ति नहीं है चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो। दिगम्बरता ही विशुद्ध मोक्षमार्ग है, शेष उन्मार्ग हैं। अनगार होने के लिए समस्त परिग्रह का त्याग अनिवार्य है। जो अल्प (फालक) या बहुत (चौदह उपकरण) परिग्रह रखता है, वह जिन शासन (कल्प) में गृहस्थ ही है।"

शास्त्राविरोधी

बोधपाहुड और समयपाहुण में श्रुतकेवली का स्मरण केवल गुरुभक्तिपरक ही नहीं है, अपितु यह कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा मूलधर्म प्रतिपादन को प्रामाणिकता का उद्घोष है। वे कहते हैं कि वीरमुख से निकल कर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी तक अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित, जिनवाणी ही उनकी कृतियों का उद्गम स्रोत है। ब्राह्मण संस्कृति के साथ आये भाषागत चौकापन्थ (जन्मना श्रेष्ठता) के, संस्कृतरूप से चलने पर जैनाचार्यों ने भी संस्कृत को अपनाया एवं मूलाम्नायाचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्राकृत में ग्रथित श्रमण-तत्त्वज्ञान की अजस्र धारा बहायी थी तथा उन्हीं (ब्राह्मणों) की मान्यता में उनकी मान्य भाषा में समझाने के लिए कहा था :

'मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तुमंगलम् ॥

श्रमण या निर्ग्रन्थ के 'आगम-चक्खू साहू' के समान गृहस्थ के भी षडावश्यकों में साधुओं के 'स्वाध्याय' तप का विधान है। फलतः शास्त्रप्रवचन के आरम्भ में ही उक्त श्लोक की कहकर प्रवचनीय या पाठ्यग्रन्थ के प्रारम्भ में यह शपथ (अस्य मूलकर्ता श्री सर्वज्ञदेवः तदुत्तर ग्रन्थकर्ता गणधर देवाः, प्रतिगणधरदेवा, तेषां वचोऽनुसारं श्री कुन्दकुन्दाचार्येण विरचितमिदं—वाचकः सावधानतया वाचयतु तथा श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु) कही जाती है। गुणधर, पुष्पदंत-भूतवलि ने भी यही किया है। किन्तु स्थविरकल्प में ऐसा नहीं है। बलभी-वाचना के बाद स्थविरकल्पियों को मान्य ग्यारह अंगों के संग्राहक देवर्द्धिगणि स्पष्ट लिखते हैं 'वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद हुए दुर्भिक्ष के कारण बहुत से मुनियों के मर जाने पर तथा श्रुत का बहुभाग खण्डित हो जाने पर श्रुतभक्ति से प्रेरित होकर भावी भव्यों के उपकार के लिए श्रीसंघ के आग्रह पर (मैंने) आचार्यों में से वचे उस समय के साधुओं को बलभी में बुलाया और उनके मुख से खण्डित होने से कम-बढ़ टूटे या पूरे आगम के वाक्यों को अपनी समझ के अनुसार संकलन करके पुस्तकरूप दिया है।'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की मूल श्रमण संस्कृति के सनातन उत्तररूप आर्हत या निर्ग्रन्थ या जैन संस्कृति में मगध के लम्बे दुर्भिक्ष के कारण आरव्य तथा उत्तरकालीन दुर्भिक्षों से आयी सुखशीलता या शिथिलता तथा बनवास के स्थान पर ग्रहीत उपाश्रय-निवास के कारण सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, किन्तु आम्नायाचार्य कुन्दकुन्द को दृढ़ता ने मूलसंघ या संस्कृति को समग्र नियन्त्रण द्वारा बचाया था। इसका फल यह हुआ कि शाश्वतिक विरोधियों में भी समन्वय हुआ और ब्राह्मण संस्कृति ने आरण्यक तथा उपनिषद् काल में मोक्ष, तप, अध्यात्म, शिश्नदैवत्व तथा दर्शन को मूल (श्रमण) संस्कृति से लिया और अध्यात्म ज्ञान-ध्यान-तप मय श्रमण संस्कृति ने भी कर्मकाण्ड को ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति से लिया। इस आदान-प्रदान द्वारा दिगम्बर बाबा शिव 'महादेव' हो गये। यद्यपि ब्राह्मण संस्कृति उन्हें संहार (विनाश) का देव कहती है, किन्तु उनका रूप स्पष्ट कहता है कि संसार की समाप्ति निर्ग्रन्थता द्वारा ही होती है। सृष्टि (प्रजापतित्व) रक्षक (विष्णुत्व) संसार को बढ़ाने वाली हो हैं। यांत्रिक हिंसा-प्रधान ब्राह्मण संस्कृति ने ही महाभारतयुग तक आते-आते 'अहिंसा परमोधर्मः' उद्घोष किया।

स्पष्ट है कि श्रमणजन इस भारतभूमि के मूल निवासी या प्राग्वैदिक पुरुष थे तथा उनकी संस्कृति वही थी जिसे मूलसंघ के प्रथम व्याख्याता तथा पालक कुन्दकुन्दाचार्य की उपलब्ध कृतियाँ करतलामलक करती है। इस कालचक्र में हिरण्यगर्भ ऋषभदेव से आरब्ध तथा ऐतिहासिक तीर्थंकर सुव्रत, नैमि, पार्श्व तथा महावीर एवं इनके समकालीन गौतमबुद्ध के पूर्ववर्ती आजीवक, आदि भारतीय मतों का विविध-प्राकृतो में उपलब्ध आंशिक विवरण ही स्पष्ट कहता है कि आर्य (आव्रजक = नोमेड) पशुपालक, कर्मकाण्डी तथा आक्रमक ब्राह्मणों या वैदिक संस्कृति के पूर्ववर्ती श्रमण थे और उनकी मूल विकसित वैज्ञानिक संस्कारों का तत्त्वज्ञान वही था जो गुणधर, धरसेन, भूतबलि-पुष्पदन्त, भद्रबाहु के गमक शिष्य आ० कुन्दकुन्द की जनभाषा (प्राकृत) में उपलब्ध है।

मैं पुराने आचार्यों की अवज्ञा नहीं करना चाहता, किंतु यह कहना अवश्य चाहूँगा कि जिन आचार्यों ने विशिष्ट उपलब्धियों के न होने का प्रतिपादन किया, उन्होंने जैन परंपरा का हित नहीं किया। उससे अहित ही हुआ। साधकों के मन में हीनभावना पैदा हो गई और उनका प्रयत्न शिथिल हो गया।

—आचार्य तुलसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org